अथाष्टात्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आ ददेऽदित्यै रास्नासि॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र से ही सैंतीसवें अध्याय का प्रारम्भ हुआ था। अन्त के **'अदित्यै रासनासि'** के स्थान पर वहाँ **'नारिरसि'** ये शब्द थे। 'संसार की प्रत्येक वस्तु हमारी शत्रु नहीं है' के स्थान में यहाँ शब्द ये हैं कि **अदित्यै**=अखण्डन व पूर्ण स्वास्थ्य के लिए तू **रास्ना**=कमरबन्ध है, अर्थात् तू हमारे पूर्ण स्वास्थ्य की साधिका है, परन्तु कब? जब १. **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस सविता—सबके प्रेरक, देव—दिव्य गुणों के पुञ्ज व सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश देनेवाले प्रभुके **प्रसवे**=प्रेरणा व आज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु का आदेश संक्षेप में यह है कि **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=त्यागपूर्वक उपभोग करो, अतः हम प्रत्येक वस्तु का सेवन करते हुए उसमें उलझें नहीं। हम वस्तु का ग्रहण करें—वस्तु हमारा ग्रहण न कर ले। स्वाद में पड़े और वस्तु के शिकंजे में फँसे। २. जब तुझे **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्न से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से कमाई वस्तु का ही हम ग्रहण करते हैं, बिना श्रम के हम कुछ भी नहीं लेते। ३. तुझे **पूष्णः**=पूषा के **हस्ताभ्याम्**=हाथों से ग्रहण करता हूँ। जब पोषण के दृष्टिकोण से हम प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करते हैं तब वह हमारे स्वास्थ्य को सिद्ध करनेवाली बनती है। वेद के शब्दों में वह **'अदिति'** की 'रास्ना' हो जाती है। 'अदितिः अदीना देवमाता' निरुक्त के शब्दों के अनुसार (क) प्रभु की आज्ञा में त्यागपूर्वक वस्तुओं के ग्रहण से (ख) प्राणापान के प्रयत्न से—पुरुषार्थपूर्वक अर्जन करने से और (ग) पोषण के दृष्टिकोण से वस्तुओं के लेने पर हम अदीन बनेंगे और अपने जीवन में दिव्य गुणों का निर्माण कर सकेंगे।

भावार्थ—हमारे जीवन के तीन सूत्र हों—हम १. प्रभु की आज्ञा में २. प्रयत्न से ३. पोषण के ही लिए वस्तुओं का ग्रहण करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

इडऽएह्यदितऽएहि सरस्वत्येहि। असावेह्यसावेह्यसावेहि॥२॥

संसार-यात्रा का सुखमय बीतना बहुत कुछ पत्नी पर निर्भर करता है। प्रस्तुत मन्त्र में पति कहता है कि १. **इडे एहि**=हे इडे! तू मुझे प्राप्त हो। 'इडा वै मानवी यज्ञानूकाशिन्यासीत्' तै० १। १। ४।४। इडा का अभिप्राय है **'मानवी'**=मनु की पुत्री=समझदार की सन्तान, अर्थात् पूरी समझदार तथा **'यज्ञानूकाशिनी'**=अपने जीवन से यज्ञ को प्रकाशित करनेवाली। **अनूकाश**=(reflection of light)। मुझे वह पत्नी प्राप्त हो जो (क) समझदार हो और (ख) यज्ञिय वृत्तिवाली हो। **असौ**=वह 'मानवी' और 'यज्ञानुकाशिनी' तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। २. **अदिते एहि**=हे अदिते! तू मुझे प्राप्त हो। अदिति का अभिप्राय है **अदीना देवमाता**=न क्षीण होनेवाली तथा देवों का निर्माण करनेवाली। मुझे पत्नी वह प्राप्त हो जो उचित आत्म-सम्मान की भावनावाली हो तथा दिव्य गुणोंवाली सन्तानों का निर्माण

करनेवाली हो। 'अदिति' शब्द की व्युत्पत्ति शतपथ ७.४.२.७ में 'इयं हि सर्वं ददते' की गई है, अतः पत्नी वही ठीक है जो सब-कुछ देने की वृत्ति रखती हो। **असौ**=वह (क) अदीन व देवों की निर्मात्री तथा (ख) सब-कुछ दे सकनेवाली तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। ३. **सरस्वति**=हे विज्ञानवति एवं सुशिक्षिते! **एहि**=तू मुझे प्राप्त हो। पत्नी उत्तम ज्ञानवाली तथा सुशिक्षित और परिष्कृत जीवनवाली हो। **असौ एहि**=उत्तम शास्त्रीय ज्ञानवाली (Learned) पत्नी मुझे प्राप्त हो। **असौ एहि**=सभ्य व सुशिक्षित (cultured) पत्नी मुझे प्राप्त हो। **असौ एहि**=सदाचारिणी पत्नी मुझे प्राप्त हो। ऐसी पत्नी को प्राप्त करके यह दृढ़ता से अपने पथ पर चलता हुआ 'आथर्वण' संसार-यात्रा में डाँवाँडोल नहीं होगा।

भावार्थ—पत्नी के अन्दर ये गुण होने चाहिएँ : (क) समझदारी, (ख) यज्ञियवृत्ति, (ग) अदीनता व दिव्यता, (घ) उदारता और (ङ) शिक्षा।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**पूषा**। छन्दः—**भुरिक्सामीबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अदित्यै रास्नासीन्द्राण्याऽउष्णीषः। पूषासि घर्माय दीष्व॥३॥

गतमन्त्र के विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि १. हे पत्नि! तू **अदित्यै**=स्वास्थ्य के लिए **रास्ना**=कमरबन्ध (हपतकसम) **असि**=है। पत्नी 'धर्म-पत्नी' है। वह पति का यज्ञों से संयोग करनेवाली है, स्वयं यज्ञियवृत्तिवाली होती हुई पति के जीवन को भी यज्ञिय बनाती है। इस प्रकार विलास के मार्ग से हटाकर यह स्वास्थ्य को सिद्ध करती है। २. **इन्द्राण्यै**=इन्द्र की प्रिय पत्नी की तू **उष्णीषः**=पगड़ी है। **'इन्द्राणी व इन्द्रस्य प्रिया पत्नी, तस्या उष्णीषः विश्वरूपतम**—श० १४।२।१।८। इन्द्र की प्रिय पत्नी इन्द्राणी है। उसकी उष्णीष का अभिप्राय है सब वस्तुओं को सुन्दररूप देनेवाली'=पति ने 'इन्द्र—इन्द्रियों का अधिष्ठाता, अर्थात् जितेन्द्रिय बनना है, उसको प्रीणित करनेवाली पत्नी 'इन्द्राणी' कहलाती है। यह घर में सब वस्तुओं को एक सुन्दर रूप देनेवाली होती है, अर्थात् इसके आने पर सारा घर सुव्यवस्थित हो जाता है। सब वस्तुएँ ठीक आकार में आ जाती हैं। ३. **पूषा असि**=तू सबको पोषण प्राप्त करानेवाली है। वस्तुतः घर में भोजनादि की ठीक व्यवस्था का भार पत्नी पर ही होता है। यह उस व्यवस्था को ठीक रखती हुई ठीक ढंग से सबका पोषण करनेवाली बनती है। ४. **घर्माय**=शक्ति के लिए **दीष्व**=(to soar, to fly) तू ऊँची उड़ानवाली बन। उच्च लक्ष्य का ध्यान ही हमें हीन आकर्षणों से बचाता है और हमारी शक्ति को नष्ट नहीं होने देता है।

भावार्थ—पत्नी यज्ञिय जीवनवाली हो, जिससे विलास से स्वास्थ्य को समाप्त न कर दे। घर में सब वस्तुओं को सुव्यवस्थित प्रकार से रखकर घरको सुन्दर बनाये। भोजन की ठीक व्यवस्था से सबके स्वास्थ्य को सिद्ध करे और उच्च लक्ष्यवाली बनकर शक्ति को नष्ट न होने दे।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व।
स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत्॥४॥

१. **अश्विभ्याम्**=प्राणापानों के लिए **पिन्वस्व**=तू अपने को प्रीणित कर, उत्साहित कर, अर्थात् प्राणापान की साधना करने के लिए (**पिन्व्**=**जिन्व्**=to urge on) तू अपने को उत्साहित करनेवाली हो। २. **सरस्वत्यै**=ज्ञान व शिक्षा के लिए **पिन्वस्व**=तू उत्साह-सम्पन्न हो। ज्ञान में तेरी रुचि हो—सुशिक्षित होने की तेरी प्रबल कामना हो। ३. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय

बनने के लिए **पिन्वस्व**=तुझमें सदा उत्साह हो। वस्तुतः 'प्राणसाधना, ज्ञान व शिक्षा तथा जितेन्द्रियता' ही में अध्यात्म-उन्नति की मौलिक बात है। प्राणसाधना से शरीर पूर्णतया नीरोग रहता है। ज्ञान व शिक्षा हमारे मस्तिष्क को स्वस्थ बनाते हैं तथा जितेन्द्रियता मानस-पवित्रता का मूल बनती है। ४. (क) इस प्रकार हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनते हैं। इस प्राणशक्ति के सम्पादन करनेवाले को प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**=हे प्राण-शक्तिसम्पन्न (प्राण एवेन्द्रः—श० १२।९।१।१४) तू **स्वाहा**=स्वार्थ के त्यागवाला बन। (ख) जब हम सरस्वती की साधना करके ज्ञान व शिक्षा का सम्पादन करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**=हे ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले जीव! तू **स्वाहा**=स्वार्थत्यागवाला बन। (ग) जितेन्द्रियता को सिद्ध करके 'इन्द्र' बननेवाले इस साधक से प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**= (हृदयमेवेन्द्रः—श० १२।९।१।१५) हे उत्तम मन व हृदयवाले जीव! तू **स्वाहा**=स्वार्थत्याग करनेवाला बन। वस्तुतः स्वार्थत्याग के बिना प्राणापान व जितेन्द्रियता का साधन नहीं हो सकता।

भावार्थ—हम प्राणसाधना, ज्ञान, व जितेन्द्रियता के लिए सदा उत्साह धारण करें

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वाक्**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥५॥

१. पिछले मन्त्र में प्राण, ज्ञान व जितेन्द्रियता की साधना का उल्लेख हुआ है। उस साधना में सर्वप्रमुख सहायक वेदवाणी है। वेदवाणी को 'गौ' भी कहते हैं। इस वेदवाणीरूप गौ से मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमा' कहता है कि **यः**=जो **ते**=तेरा **स्तनः शशयः**=(शशयः शिश्यानः—नि०) हमारे जीवनों को प्लुतगतिवाला बनानेवाला है **तम्**=उसको **इह**=यहाँ **धातवे**=हमारे पीने के लिए **अकः**=कर, अर्थात् तेरा ज्ञान हमें क्रियाशील बनाये। २. हमें तू उस ज्ञान का पान करा जो **मयोभूः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाला है। वस्तुतः क्रियाशीलता का ही परिणाम मंगल है। 'मंगल' शब्द 'मगि गतौ' धातु से बना है। गति में ही कल्याण है। अकर्मण्यता अकल्याण का कारण है। ३. उस स्तन को पिला **यः**=जो **रत्नधा**=हममें रमणीय वस्तुओं का धारण करनेवाला है। इस ज्ञान की वाणी को पीकर हमारे जीवन से सब बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं और हमारा जीवन रमणीय बन जाता है। ४. हमें उस स्तन का पान करा जो **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त कराता है। इस ज्ञान की वाणी से हम वसुओं को प्राप्त करने की क्षमतावाले होते हैं। ५. यह वेदवाणी का स्तन तो हमारे लिए **सुदत्रः**=सब उत्तम वस्तुओं को (सु) देकर (द) हमारी रक्षा करनेवाला है (त्र)। ६. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवि! **येन**=जिस अपने स्तन से तू **विश्वा**=सब **वार्याणि**=वरणीय, उत्तम वसुओं का **पुष्यसि**=पोषण करती है उस स्तन को तू हमें पिलानेवाली हो। ७. तेरे इस स्तन का पान करके मैं **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **अन्वेमि**=प्राप्त होता हूँ। इस ज्ञान से मेरा सारा व्यवहार विशाल हृदय के अनुकूल होता है, मेरे व्यवहार में संकुचित-हृदयता नहीं टपकती।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौ के स्तन का पान करके मैं 'क्रियाशील, मंगलमय, ज्ञनसम्पन्न, व वसुमान्' बनता हूँ। सब वरणीय वसुओं को प्राप्त करता हूँ और विशाल हृदय बनता हूँ।

सूचना—वेद की शिक्षा मनुष्य को कहती है १. 'मनुर्भव' तू मनु बन, समझदार बन २. 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' भूमि को अपनी माता समझ। भूमि के एकदेश को अपनाकर तू देशभक्ति के नाम पर भी संकुचित-हृदय मत बन। वस्तुतः यही मनुष्य **दीर्घतमा**=अज्ञान को विदीर्ण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परि गृह्णाम्यन्तरिक्षेणोप यच्छामि। इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्मं पात वसवो यजत वाट्। स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये ॥६॥

उसी वेदवाणी से कहते हैं कि १. **गायत्रं छन्दः असि**=तू गायत्र छन्द है, **त्रैष्टुभं छन्दः असि**=तू त्रैष्टुभ छन्द है। यद्यपि वेदवाणी केवल इन दों छन्दों की बनी हुई नहीं है तो भी यहाँ दो ही छन्दों का उल्लेख इसलिए है कि "**एते वाव छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री त्रिष्टुप् च**" (तां० २०. १६) छन्दों में गायत्री और त्रिष्टुप् अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, ये अधिक शक्तिशाली हैं यह वेदवाणी 'गायन्तं त्रायते' अपने गान करनेवाले का त्राण करती है। जो भी वेदवाणी को पढ़ते हैं, वे इसके द्वारा सुरक्षित होते हैं तथा यह वेदवाणी 'त्रि+ष्टुप' तीनों 'काम-क्रोध व लोभ' को रोकनेवाली होकर त्रिविध कष्टों को दूर करती है। २. मैं **त्वा**=तुझे **द्यावापृथिवीभ्यां**=मस्तिष्क व शरीर (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) के स्वास्थ्य के लिए **परिगृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। अथवा "**प्राणापानौ वै द्यावापृथिवी**"—(श० १४.२.२.३६) मैं अपने प्राण व अपान को शक्तिसम्पन्न बनाने के लिए तेरा ग्रहण करता हूँ। ३. **अन्तरिक्षेण**=**'मनोऽन्तरिक्षलोकः'** (श० १४.४.३.११) मन के उद्देश्य से **उपयच्छामि**=मैं तुझे अपनाता हूँ (उपयच्छा=स्वीकरण)। वेद का अध्ययन हमें सदा मन को मध्यमार्ग पर चलने का उपदेश देता है। 'अन्तरिक्ष' शब्द का प्रयोग ही 'अन्तरा क्षि' मध्य में निवास का संकेत करता है। 'मेरा मन सब अतियों (Extremes) से बचकर मध्य में ही चले' इस बुद्धि से मैं वेदवाणी को स्वीकार करता हूँ। ४. **इन्द्राश्विना**=हे जीव! तू इन प्राणापान के साथ **सारघस्य मधुनः**=मधु-तुल्य सोमरस की **घर्म**=शक्ति को **पात**=सुरक्षित करनेवाला बन। 'इन्द्र' शब्द से सूचित जितेन्द्रियता व प्राणसाधना शरीर में सोमरक्षा के लिए आवश्यक है। यह शरीर में उत्पन्न होनेवाला सोम, भक्ष्य ओषधियों का सारभूत है, इसी बात को स्पस्ट करने के उद्देश्य से यहाँ सोम के लिए 'मधु' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे शहद (सारघ) मधुमक्षिकाओं से पुष्परस के द्वारा ही तो बनाया जाता है, उसी प्रकार शरीर का सोम भी ओषधिरस का ही सार होना चाहिए। शरीर में इसका सुरक्षित होना ही शरीर की सारी उष्णता व शक्ति का आधार है। ५. इस शक्ति के शरीर में सुरक्षित होने पर हमारा शरीर में निवास उत्तम होता है और हम **वसु**=उत्तम निवासवाले बन जाते हैं। इस सोमपान से शरीर ही नीरोग नहीं होता, मन भी निर्दोष बनता है। इन वसुओं से कहते हैं कि **वसवः**=सोमरक्षा द्वारा वसुत्व सिद्ध करनेवालो! **यजत**=तुम यज्ञशील बनो। यज्ञशीलता विलासमय जीवन की विरोधी भानवा को व्यक्त करती है। सोमरक्षा के लिए इस यज्ञिय जीवन की अत्यन्त आवश्यकता है। ६. **वाट्**=(वट्=बाँटना) तू अपने धन को बाँटनेवाला बन। संविभाग ही मनुष्य को पवित्र बनाता है ७. **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग करनेवाला बन ताकि तू **सूर्यस्य रश्मये**=सूर्य की रश्मियों को प्राप्त कर सके, अर्थात् तेरी ज्ञान की रश्मियाँ दीप्त हों—तू ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बने तथा **वृष्टिवनये**=अन्त में धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा का अनुभव कर।

भावार्थ—वेदाध्ययन से मनुष्य का जीवन वासनाओं से बचता है, उसके अन्दर बाँटकर खाने की वृत्ति उत्पन्न होती है, ज्ञान बढ़ता है और आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वातः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

क्रियाशील पति

समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा सरिराय त्वा वाताय स्वाहा।
अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहाप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा।
अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहाशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा॥७॥

आचार्य दयानन्द लिखते हैं कि प्रस्तुत मन्त्रों का विषय है 'विवाह किये स्त्री-पुरुष क्या करें?' प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी कहती है कि मैं १. **समुद्राय**=सदा प्रसन्न रहनेवाले **त्वा**=आपके प्रति **वाताय**=वायु के समान अविच्छिन्न गतिवाले के प्रति **स्वाहा**=अपना अर्पण करती हूँ, अपने पिता के घर को छोड़कर आपके समीप होती हूँ। २. **सरिराय (सरिर=सलिल=जल)** जल के समान शान्त **वाताय त्वा**=वायु के समान क्रियाशील आपके लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करती हूँ। ३. **अनाधृष्याय**=वासनाओं से धर्षित न होनेवाले **वाताय त्वा**=गतिशील आपके लिए **स्वाहा**=अपने को सौंपती हूँ। ४. **अ-प्रति-धृष्याय**=प्रत्येक का धर्षण न करनेवाले, अर्थात् औरों को व्यर्थ ही अन्यायरूप से न दबानेवाले **वाताय**=आलस्यशून्य आपके लिए **स्वाहा**=मैं त्याग करती हूँ। ५. **अवस्यवे**= संसार की सब विषय-वासनाओं से रक्षा चाहनेवाले **वाताय त्वा**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले आपके लिए **स्वाहा**=(सु आह) मैं शुभ शब्दों का उच्चारण करनेवाली होती हूँ। ६. **अ-शिमि-दाय**=(शिमिति कर्मनाम शामयतेर्वा=शक्नोतेर्वा—नि० ५।१२) कर्मों को न छोड़नेवाले के लिए **वाताय**=क्रियाशील के लिए **स्वाहा**=मैं सदा शुभ शब्दों को बोलनेवाली बनती हूँ। **'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्'** माधुर्यवाली, शान्तिप्रद वाणी बोलनी ही चाहिए। ७. एवं प्रस्तुत मन्त्र में पति की विशेषताएँ इस रूप में दर्शाई गई हैं—(क) वह सदा प्रसन्न रहनेवाला हो—क्रोध न करे, (ख) जल की भाँति शान्त स्वभाववाला हो, (ग) दबे नहीं, (घ) दबाये नहीं, (ङ) वासनाओं से अपनी रक्षा करना चाहे, (च) कभी कर्मों को न छोड़े, क्योंकि कर्म ही शान्ति देते हैं, वासनाओं से बचाते हैं तथा शक्ति की वृद्धि करते हैं। उन कर्मों पर बल देने के लिए ही छह बार 'वाताय' कहा गया है, अर्थात् मनुष्य सदा पाँचों इन्द्रियों व छठे मन को अकर्मण्य न होने दे। एवं, पति का सर्वमहान् गुण 'क्रियाशीलता' ही है।

भावार्थ—पति 'प्रसन्न—शान्त, न दबनेवाला, न दबानेवाला, वासनाओं से ऊपर उठ कर्मों को कभी न छोड़नेवाला, वायु की भाँति सदा क्रियाशील' होना चाहिए।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहेन्द्राय त्वादित्यवते स्वाहेन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने स्वाहा। सवित्रे त्वऽऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा॥८॥

१. **इन्द्राय** जितेन्द्रिय **वसुमते रुद्रवते त्वा**=वसुमान् और रुद्रवान् आपके लिए **स्वाहा**=मैं अपना त्याग करती हूँ। वसुमान् वह है जिसने अपने शरीर में उस-उस स्थान पर देवों के उत्तम निवास की व्यवस्था की है। सूर्य चक्षु का रूप धारण करके आँख में रह रहा है, अग्नि वाणी का रूप धारण करके मुख में रह रहा है, इसी प्रकार सब देवों का शरीर में निवास है। उन सब देवों को उत्तमता से निवास देनेवाला यह वसुमान् है, अर्थात् यह

पूर्ण स्वस्थ है। 'रुद्र' शब्द का अर्थ है **'रोरूयमाणो द्रवति'**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ कार्यों में लगा रहता है। एवं 'रुद्रवान्' वह है जो खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते सदा प्रभु का स्मरण करता है और इसी कारण वासनाओं के लिए प्रलयंकर रुद्र बना रहता है। इस प्रकार यह रुद्रवान् पूर्ण निर्मल मनवाला है। इसका मन वासनाओं से मलिन नहीं हुआ। २. **इन्द्राय त्वा**=तुझ जितेन्द्रिय **आदित्यवते**=आदित्यवान् के लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। सब विद्याओं का आदान करके ज्ञान के सूर्य से चमकनेवाला यह आदित्यवान् है। इसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से चमक रहा है। ३. **इन्द्राय त्वा**=तुझ इन्द्रियों के अधिष्ठाता **अभिमातिघ्ने त्वा**=ऊँचा उठकर भी जो अभिमान का नाश करनेवाला है, उस तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। दैवी सम्पत्ति की पराकष्ठा 'नातिमानिता' पर है। यह पूर्ण स्वस्थ है, निर्मल मनवाला है, दीप्त मस्तिष्कवाला है। एवं, शरीर, मन व मस्तिष्क की सम्पत्ति से युक्त होकर भी यह अभिमानी नहीं हो गया। रोगों पर, वासनाओं पर, अज्ञानान्धकार पर विजय पाकर भी यह अपने मस्तिष्क को पूर्ण स्वस्थ रख पाया है, अभिमानी नहीं हो गया। ४. यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक वाक्य में 'इन्द्राय' को रक्खा गया है। यह संकेत करने के लिए कि सबसे महत्त्वपूर्ण 'जितेन्द्रियता' है। ५. **सवित्रे त्वा**=तुझ सविता के लिए—धन का उत्पादन करनेवाले के लिए, परन्तु **ऋभुमते (ऋतेन भान्ति)**=सत्य से चमकनेवाले के लिए, अर्थात् धन को सम्यग्मार्ग से कमानेवाले के लिए। (**ऋभवः**=Skilful, artist, smith) ऋभु का अर्थ शिल्पी भी है, अतः ऋभु वे हैं जो कुशलता से कोई-न-कोई हाथ का कार्य करते हैं। **विभुमते**=व्यापकतावाले तेरे लिए, धन कमाने के साथ हृदय की उदारता (व्यापकता) आवश्यक है **वाजवते**=शक्तिवाले तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना त्याग करती हूँ। एवं, पति कमानेवाला हो। पुरुषार्थ व शिल्प में कुशलता से धनार्जन किया जाए, हृदय विशाल हो, शरीर शक्तिशाली हो। ६. **बृहस्पतये त्वा**=तुझ ब्रह्मणस्पति के लिए—वेदज्ञान के पति के लिए—ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाले, **विश्वदेव्यावते**=सब दिव्य गुणोंवाले जितेन्द्रिय के लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ।

भावार्थ—पति जितेन्द्रिय, पूर्ण स्वस्थ, प्रभुभक्त, ज्ञान का आदान करनेवाला, निरभिमानी, धन का सत्य व पुरुषार्थ से अर्जन करनेवाला, उदार हृदय, शक्तिशाली, ब्रह्मनिष्ठ व दिव्य गुणोंवाला हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा। स्वाहा घर्माय स्वाहा घर्मः पित्रे॥९॥

१. **यमाय**=सब इन्द्रियों का नियमन करनेवाले **अङ्गिरस्वते**=एक-एक अङ्ग में रसवाले **पितृमते त्वा**=उत्तम पितृत्व की शक्तिवाले तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। जितेन्द्रियता ही मनुष्य को अङ्गिरस बनाती है—उसके अङ्ग रसमय बने रहते हैं। जो अङ्गिरस नहीं वह उत्तम सन्तानों को जन्म कैसे देगा? अङ्गिरस ही पितर बन पाते हैं। इसीलिए मन्त्र में यह क्रम है—'यम-अंगिरस्-पितर' २. **घर्माय**=तुझ शक्ति की उष्णतावाले के लिए मैं **स्वाहा**=समर्पण करती हूँ। वस्तुतः जो भी 'यम' बनता है, वह घर्म=शक्ति का पुञ्ज होता ही है। ३. **घर्मः**=यह शक्ति का पुञ्ज व्यक्ति ही **पित्रे** =पिता के लिए होता है, अर्थात् इसी में पिता बनने की योग्यता होती है—यही पितृत्व के लिए होता है।

४. प्रस्तुत मन्त्र में 'यम-अंगिरा-पिता' वह क्रम बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इन सातवें-आठवें

व नौवें मन्त्र के देवता भी क्रमशः 'वात-इन्द्र-वायु' हैं। बीच में इन्द्र है—इन्द्रियों का अधिष्ठाता। दोनों ओर होनेवाले वात व वायु शब्द पर्यायवाची हैं और गतिशीलता के द्वारा बुराई के हिंसन की सूचना देते हैं। जिसने भी पिता बनना है उसके लिए यह नितान्त आवयश्क है कि वह क्रियामय जीवनवाला होकर सब बुराइयों को अपने से दूर रक्खे और जितेन्द्रिय हो। जितेन्द्रिय के सन्तान ही उत्तम जीवनवाले हो सकेंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन नियमित हो जिससे हमारे एक-एक अङ्ग में शक्ति के कारण रस हो। हम शक्तिशाली बनें तभी हम योग्य पिता बन पाएँगे।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

यज्ञरूप भोजन

विश्वाऽआशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाडिह।
स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना॥१०॥

१. पिछले मन्त्रों में पति-पत्नी का उल्लेख हुआ है। उन्हें इन मन्त्रों में 'अश्विनौ' शब्द से स्मरण किया है। 'अश्विनौ' का अर्थ आचार्य ने 'सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ' और 'भूगर्भविद्याविदौ स्त्रीपुरुषौ' दिया है। ऐतरेय० १।१८। में 'अश्विनौ' अध्वर्यू' इन शब्दों में स्पष्ट किया है कि हिंसाशून्य (अध्वर) यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत स्त्री-पुरुष 'अश्विनौ' हैं।

२. ये पति-पत्नी कुटिलता से दूर तथा सरल मनोवृत्ति से कार्यों में व्यापृत होने से 'दक्षिण' हैं। **विश्वाः आशाः**=सब दिशाएँ **दक्षिणसद्**=(दक्षिणे सीदन्ति) इन सरल स्त्री-पुरुषों में निषण्ण होती हैं, अर्थात् इनकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। ये ग़लत इच्छाएँ नहीं करते इनकी इच्छाएँ शुभ होती हैं, अतः इनकी वे इच्छाएँ अवश्य पूर्ण होती हैं। ३. **अयाट् इह**=इस मानव-जीवन में यही पुरुष **विश्वान् देवान्**=सब देवों को, अर्थात् सब दिव्य गुणों को अपने साथ (यज्ञ संगतिकरण)=सङ्गत करता है। ४. इन पति-पत्नी को प्रभु आदेश देते हैं कि **'स्वाहाकृतस्य'**=पेट की जाठराग्नि में (वैश्वानर=अग्नि में) भोजन को यज्ञ का रूप देकर खाते हुए **घर्मस्य**=शक्तिप्रद अन्न के (**घर्म**=अन्न—नि० १।९) **मधोः**=सारभूत सोम का **पिबतम्**=पान करो। अन्न को यज्ञरूप में खाया जाए तो यह 'स्वाहाकृत' हो जाता है। इसे स्वाद के लिए नहीं, अपितु इस देव-मन्दिर की रक्षा के लिए ही खाया जाता है। 'शक्तिप्रद अन्न का ही सेवन करना चाहिए' यह भावना 'घर्म शब्द से व्यक्त हो रही है।

भावार्थ—हम भोजन को भी यज्ञ का रूप दे दें। परिणामतः हम 'दक्षिण' बनेंगे, हमारी सभी आशाएँ पूरी होंगी, दिव्य गुणों से हमारा मेल होगा।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

ज्ञान व यज्ञ

दिवि धाऽइमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः। स्वाहाग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः॥११॥

१. हे प्रभो! **दिवि**=ज्ञान के प्रकाशवाले इस पुरुष में **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **धाः**=धारण कीजिए। ज्ञानी पुरुष यज्ञशील बने। यदि दुर्भाग्यवश ज्ञानी पुरुष यज्ञ की भावनावाला, संगतिकरण व मेल की भावनावाला नहीं होता तो वह संहारक अस्त्रों के निर्माण में अपने ज्ञान का विनियोग करता है। परिणामतः वह मानव के लिए अशान्ति की वृद्धि का कारण होता है। ऐसे ही पुरुषों को 'ब्रह्मराक्षस' कहा गया है। सामान्य भाषा में ज्ञानी को 'साक्षर' (**स अक्षर**=literate) कहते हैं। यदि यह यज्ञिय भावनावाला नहीं रहता तो विपरीतवृत्ति होना आवश्यक है। २. साथ ही **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाशवाले में ही

धाः=धारण कर। जिस समय ये यज्ञ अज्ञानियों के हाथों में चले जाते हैं, तब इनमें रीतियों rituals का प्राधान्य हो जाता है और यज्ञ की भावना समाप्त ही नहीं हो जाती अपितु अत्यन्त विकृतरूप धारण करती है। उस समय यज्ञों में पशुबलि व सुरा-सेवन भी चल पड़ता है। संक्षेप में यज्ञ 'अयज्ञ' हो जाते हैं। ३. प्रभो! ऐसी कृपा कीजिए कि हमारे जीवन में **यज्ञियाय अग्नये**=यज्ञ की अग्नि के लिए **स्वाहा**=कुछ-न-कुछ स्वार्थ का त्याग होता ही रहे। हमारा जीवन एकदम विलासमय न होकर यज्ञिय बन जाए। हम 'केवलादी' न रहें, अपञ्चयज्ञ व मलिम्लुच चोर न हो जाएँ। ४. **यजुर्भ्यः**=यजुओं के द्वारा 'देवपूजा-संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ के द्वारा **शम्**=हमारे जीवनों में शान्ति हो। वास्तविक शान्ति का मूलमन्त्र यज्ञ ही है।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान व यज्ञ दोनों का सुन्दर समन्वय हो। हम यज्ञिय अग्नि के लिए अपना त्याग करें। 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ हमारे जीवन को शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोमपान

अश्विना घर्मं पातꣳहार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः।
तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम्॥१२॥

१. हे **अश्विना**=कर्मों में शीघ्रता से व्यापनेवाले पति-पत्नियो। **अहर्दिवाभिः ऊतिभिः**=दिन-रात के रक्षणों से इस **हार्द्वानम्**=(**हृदं वनति**=Which wins the heart) हृदय को जीतनेवाले—हृदयगति को कभी बन्द (Heart failure) न होने देनेवाले **घर्मम्**=सोमरस को—शरीर में उष्णता को रखनेवाली शक्ति को **पातम्**=सुरक्षित करो। यहाँ तीन बातें ध्यान देन योग्य हैं—(क) शरीर में वीर्यरक्षा के लिए। इस अर्थ में दिन-रात सावधानी की आवश्यकता है। वह सावधानी यह है कि सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहें। (ख) इस सोमपान से शरीर में गर्मी=शक्ति बनी रहती है (ग) सोमपान करनेवाले का हृदय ठीक काम करता है, कभी फ़ेल नहीं होता। यह सोमपायी औरों के हृदयों को जीत पाता है अर्थात् औरों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला बनता है।

२. **तन्त्रायिणे**=(एष वै तन्त्रायी य एष तपत्येष हीमाँल्लोकान्तन्त्रमिवानुसंचरति —श० १४।२।२।२२) संसार-तन्त्र में विचरनेवाले सूर्य के लिए तथा **द्यावापृथिवीभ्याम्**=द्यावापृथिवी के लिए **नमः**=नमस्कार हो। मैं इनके प्रति सन्नत होऊँ। मेरा पृथिवीरूप शरीर पूर्ण स्वस्थ हो, मस्तिष्करूप द्युलोक अन्धकार के आवरण से रहित हो तथा उस मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हो।

एवं, यह स्पष्ट है कि उस घर्मपान का ही यह परिणाम है कि (क) शरीर स्वस्थ बनता है (ख) मस्तिष्क ज्ञानग्रहण के लिए उपयुक्ततम बनता है (ग) हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है।

सूचना—घर्म का अर्थ 'यज्ञ' भी है। यज्ञ की रक्षा से भी द्युलोक, पृथिवीलोक व सूर्य आदि सब देव अनुकूल होते हैं।

भावार्थ—हम सदा सावधानी से कर्मों में लगे रहकर सोम का पान करें। यह हमें हृदयों का विजेता, स्वस्थ और बुद्धि व विद्या से सम्पन्न बनाएगा।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

ब्रह्माण्ड की अनुकूलता

अपातामश्विना घर्ममनु द्यावापृथिवीऽअमꣳसाताम्। इहैव रातयः सन्तु॥१३॥

१. **अश्विना**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पति-पत्नी **घर्मम्**=शरीर में शक्ति को बनाये रखनेवाले सोम का **अपाताम्**=पान करें व सुरक्षित करें। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक तक सारे पदार्थ—सब देवता-**अनुअमंसाताम्**=उनके अनुकूल विचारवाले हों, अर्थात् सोम की शरीर में रक्षा करने पर संसार के सभी पदार्थ हमारे अनुकूल होते हैं। सोमपान करनेवाले के लिए सारा ब्रह्माण्ड अनुकूल-ही-अनुकूल होता है। शरीर में शक्ति न हो तभी इनकी प्रतिकूलता लगने लगती है। २. इस सोमपान के लिए आवश्यक है कि **इह एव**=इस गृहस्थ जीवन में ही **रातयः**=दान **सन्तु**=सदा होते रहें। दानशील पति- पत्नी का जीवन विलासमय नहीं बनता। परिणामतः वे वीर्य की रक्षा सरलता से कर पाते हैं। दान बुराइयों का खण्डन (दाप् लवने) करनेवाला है और हमारे जीवन को शुद्ध बनानेवाला है (दैप् शोधने)। जीवन की शुद्धता वीर्यरक्षा में सहायक होती है और तब सब पदार्थ हमारे लिए अनुकूल होते हैं। जीवन आशावाद से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम की रक्षा करें। यह सारे ब्रह्माण्ड को हमारे अनुकूल बनाएगा।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**द्यावापृथिवी**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मामेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय॥१४॥

१. **इषे**=प्रेरणा के लिए **पिन्वस्व**=(To urge on) अपने को उत्साहित कर, अर्थात् तुझे प्रबल इच्छा हो कि मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ। २. **ऊर्जे पिन्वस्व**=बल और प्राणशक्ति के लिए उत्साह को धारण कर। तुझमें यह भावना हो कि मैं प्रभु की प्रेरणा को सुनूँ और उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए शक्तिशाली होऊँ। मुझमें प्रेरणा के अनुसार कार्य करने का सामर्थ्य हो। ३. **ब्रह्मणे पिन्वस्व**=ज्ञान के लिए उत्साहित हो, और ४. **क्षत्राय**=बल के लिए **पिन्वस्व**=उत्साहित हो। तेरी प्रार्थना का स्वरूप ही यह हो कि **'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'**=मेरे ब्रह्म व क्षत्र दोनों ही फूलें-फलें, परन्तु इस संसार में केवल ज्ञान और बल जीवन-यात्रा के संचालन के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए भौतिक वस्तुओं की भी उतनी ही आवश्यकता है, अतः कहते हैं कि ५. **द्यावापृथिवीभ्याम्**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक इन भौतिक वस्तुओं के लिए भी **पिन्वस्व**=उत्साह धारण कर। यही भावना मन्त्र की समाप्ति पर 'विशं धारय' इन शब्दों से व्यक्त हो रही है। वस्तुतः संसार-यात्रा में धन का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इस धन को अन्याय मार्ग से नहीं कमाना है, अतः कहते हैं कि ६. **धर्म असि**=हे जीव! तू मूर्त्तिमान् धर्म है, धर्म ही नहीं **सुधर्म असि**=तू उत्तम धर्म है, अतः तूने सुपथ से ही धन कमाना है। **अमेनि असि**=तू अहिंसक है औरों की हिंसा करके कभी भी धनार्जन नहीं करता।

इस प्रेरणा को सुनकर 'दीर्घतमा' मन्त्र का ऋषि जिसने अज्ञान का विद्रावण किया है, प्रभु से प्रार्थना करता है—७. **अस्मे**=हमारे लिए **नृम्णानि**=धनों को **धारय**=धारण कीजिए ८. **ब्रह्म धारय**=ज्ञान को धारण कीजिए ९. **क्षत्रं धारय**=बल को धारण कीजिए १०. और

विशं धारय='कृषिगोरक्षा व वाणिज्य' रूप वैश्यकर्म को भी धारण कीजिए, जिससे ज्ञान प्राप्त करके और शक्तिशाली बनकर हम न्याय-मार्गों से ही धनार्जन करें।

भावार्थ—हम प्रभु प्रेरणा को सुनकर, उस प्रेरणा को क्रिया में परिणत करने की शक्तिवाले बनें, ज्ञान-बल व धन तीनों का अपने में सुन्दर समन्वय करके अपने जीवन को सुखी व सफल बनाएँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**पूषादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

स्वाहा॑ पू॒ष्णे शर॑से॒ स्वाहा॒ ग्राव॑भ्यः॒ स्वाहा॑ प्रति॒रवे॑भ्यः। स्वाहा॑ पि॒तृभ्य॑ऽऊ॒र्ध्वब॑र्हिर्भ्यो घर्म॒पाव॑भ्यः॒ स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ꣳ स्वाहा॒ विश्वे॑भ्यो दे॒वेभ्यः॑॥१५॥

ब्रह्मचर्य—१. **पूष्णे**=पूषा के लिए, अर्थात् पोषण की देवता के लिए **स्वाहा**=हम अपना त्याग करते हैं। वस्तुतः स्वाद आदि का त्याग होने पर ही ठीक ढंग से पोषण होता है। (ख) **शरसे स्वाहा**=(शृ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि वासनाओं के विनाश के लिए **स्वाहा**=मैं त्याग करता हूँ। कामादि पर विजय के लिए विश्राम आदि की सब भावनाओं को त्यागकर तपस्वी जीवन बिताना आवश्यक है। (ग) **ग्रावभ्यः**=(गृ=गृणाति उपदिशति)=ज्ञान का उपदेश देनेवाले गुरुओं के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। गुरु के प्रति अर्पण से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। गुरु के प्रति अत्यन्त विनीत बनने से। (घ) **प्रतिरवेभ्यः**=गुरु के उच्चारण किये हुए मन्त्रों को अनूदित करनेवाले विद्यार्थीयों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। वस्तुतः वे ही विद्यार्थी ठीक हैं जो गुरु के मुख से निकले प्रत्येक शब्द को ध्यान से सुनकर उसका उच्चारण करते हैं।

एवं ब्रह्मचर्याश्रम की मूलभूत बातें दो हैं—प्रथम बात तो यह कि शरीर में शक्ति का पोषण करना है और इसी उद्देश्य से वासनाओं को समाप्त करना है (पूष्णे-शरसे)। दूसरी बात यह कि उत्तम गुरुओं को प्राप्त करके उनके मुख से उच्चरित प्रत्येक शब्द को महत्त्व देना है, उसको प्रत्युच्चरित reproduce करना है और इस प्रकार निरन्तर ज्ञानवृद्धि के लिए प्रयत्नशील होना है।

गृहस्थ—२. **पितृभ्यः**=उन पितरों के लिए **स्वाहा**=उत्तम वाणी का उच्चारण करते है (स्वाहा इति वाङ्नाम—नि० १।११) जो **ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यः**=उत्कृष्ट प्रजाओंवाले हैं। (प्रजा वै बर्हिः—को० ५।७) जिन्होंने उत्तम सन्तानों का निर्माण किया है और इसी उद्देश्य से **घर्मपावभ्यः**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाले बने हैं। वस्तुतः संयमी जीवन से शरीर को शक्तिशाली बनानेवाले माता-पिता ही उत्कृष्ट सन्तानों को जन्म दे पाते हैं। इस प्रकार गृहस्थ का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वे संयमी जीवनवाले बनकर उत्तम सन्तान का निर्माण करें।

वनस्थ—३. गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ में प्रवेश करके व्यक्ति फिर से अपने मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से उज्ज्वल करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय में लगता है **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** यह वानप्रस्थ सब ग्राम्य आहारों (मिठाई आदि) को छोड़कर वन्य कन्द-मूल, फलों पर जीवन बिताता हुआ शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाता है। मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाने के लिए **द्यावापृथिवीभ्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवी के प्रति **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। इनकी उन्नति को ही मैं अपना ध्येय बना लेता हूँ। इनको स्वस्थ करने के बाद संन्यासी होकर मैं प्रचारकार्य को ठीक प्रकार से कर पाऊँगा।

संन्यास—४. अब 'द्यावापृथिवीभ्यां' का ठीक विकास करके व्यक्ति 'देव' बनता है।

इसके शरीर व मस्तिष्क दोनों ही चमकते हैं। इन **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब देवों के लिए हम **स्वाहाः**=प्रशंसात्मक शब्द बोलते हैं। इन संन्यासियों का उचित आदर हमारे जीवन को सदा सन्मार्ग में चलने की प्रेरणा देनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम शरीर को पुष्ट बनाने के लिए वासनाओं का संहार करें, आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें। द्वितीय आश्रम में शक्ति की रक्षा के द्वारा, ब्रह्मचर्य-पालन के द्वारा उत्तम सन्तान को जन्म दें। तृतीयाश्रम में शरीर व मस्तिष्क को पूर्ण स्वस्थ बनाएँ और चौथे आश्रम में ज्ञान की दीप्ति को औरों तक पहुँचानेवाले बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**रुद्रादयः**। छन्दः—**भुरिगतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभु-स्तोताओं का सङ्ग व प्रभु-प्राप्ति

स्वाहा॑ रु॒द्राय॑ रु॒द्रहू॑तये॒ स्वाहा॒ सं ज्योति॑षा॒ ज्योतिः॑। अह॑ः के॒तुना॑ जुषताꣳ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑। रात्रिः॑ के॒तुना॑ जुषताꣳ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑। मधु॑ हु॒तमिन्द्र॑तमेऽअ॒ग्नाव॒श्याम॑ ते देव घर्म॒ नम॑स्तेऽअस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः॥१६॥

१. **रुद्राय**=(रुद्र इति स्तोतृनाम—नि० ३।१६) स्तोता के लिए हम **स्वाहा**=अपना अर्पण करते हैं, **रुद्रहूतये**=(रुद्रस्य हूतिर्यस्य) प्रभु को पुकारनेवाले के लिए **स्वाहा**=हम अपने को सौंपते हैं। प्रभु के उपासकों के संग बैठने से हमारा जीवन भी भौतिक वासनाओं से ऊपर उठकर प्रभु-प्रवण बनता है। **ज्योतिषा सम्** (गत्य) **ज्योतिः**=उन ज्योतिर्मय जीवनवालों के साथ मिलकर हमारा जीवन भी ज्योतिर्मय बनता है। **'अग्निनाग्निः समिध्यते'** जैसे अग्नि से दूसरी अग्नि समिद्ध की जाती है उसी प्रकार उन ज्योतिर्मय जीवनवालों के सम्पर्क में हमारा जीवन भी ज्योतिर्मय बनता है।

इस प्रकार प्रभु कृपा करें कि **अहः केतुना जुषताम्**=हमारा सारा दिन प्रकाश से सेवित हो। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु ही **स्वाहा**=हम स्वार्थ त्याग करें—सब आराम व मौज को समाप्त कर दें। इसी प्रकार **रात्रिः**=रात भी **केतुना जुषताम्**=प्रकाश से सेवित हो। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों, **ज्योतिषा**=इस ज्योति के दृष्टिकोण से **स्वाहा**=हम स्वार्थ-त्याग करते हैं।

२. ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम इस शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति की रक्षा करनेवाले बनें। इसी सोम को 'मधु' कहते हैं। यह सब ओषधियों का सारभूत होता है। यह **मधु**=सोम **हुतम्**=आहुत होता है—समर्पित होता है। किसमें? (क) **इन्द्रतमे**=अधिक-से-अधिक जितेन्द्रिय पुरुष में और (ख) **अग्नौ**=आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष में। जो व्यक्ति इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है, वही सोम की रक्षा कर पाता है। इन्द्रिय-विषयों में फँसते ही सोम की रक्षा सम्भव नहीं रहती। साथ ही जो जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ने की भावना रखता है, वही व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में फँसने से बच सकता है, अतः हम 'इन्द्रतम व अग्नि' बनकर हे **देव**! सब दिव्यता के पुञ्ज प्रभो! **ते**=आपके **घर्म**=तेज को **अश्याम**=प्राप्त करें।

३. हे प्रभो! **ते नमः अस्तु**=आपके प्रति हम नतमस्तक हों। आपकी विनय ही हमें इस योग्य बनाएगी कि हम इन्द्रियों के दास बनने से बचे रहेंगे, और हममें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना बनी रहेगी। इस प्रकार हे प्रभो! **मा मा हिंसीः**=आप मेरी हिंसा मत होने दीजिए। प्रभु-विनय ही हमें जितेन्द्रिय बनने की क्षमता प्रदान करती है और विनाश से बचाती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तोताओं के सङ्ग में रहकर मैं अपने ज्ञान को बढ़ाऊँ और अन्ततः प्रभु का सङ्गी बनकर सब प्रकार के विनाश से ऊपर उठ जाऊँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ज्ञान-प्रसार

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः। उत श्रवसा पृथिवीꣳसꣳसीदस्व महाँ२॥ऽ असि रोचस्व देववीतमः। वि धूममग्नेऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥१७॥

१. **इमं दिवम्**=इस प्रकाशमय जीवनवाले को **अभि**=लक्ष्य करके **महिमा**=महत्त्व **बभूव**=होता है, अर्थात् इसे महत्त्व प्राप्त होता है, जो महत्त्व **विप्रः**=इसका विशेष रूप से पूरण करनेवाला होता है और **स-प्रथाः**=विस्तार से युक्त होता है। पिछले मन्त्रों में प्रभु-स्तोताओं के सङ्ग का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उस सङ्ग में चलनेवाले व्यक्ति का 'इमम्' इस सर्वनाम से संकेत है। जो भी व्यक्ति ऐसा बनता है उसे महत्त्व प्राप्त होता है, वह महत्त्व जो उसका पूरण करनेवाले होता है, साथ ही उसकी शक्तियों के विकास का कारण बनता है। २. **उत**=और यह व्यक्ति **श्रवसा**=ज्ञान के द्वारा **पृथिवीम्**=इस पृथिवी पर **संसीदस्व**=उत्तमता से बैठता है, अर्थात् इस पार्थिव निवास में इसका कोई भी कार्य ज्ञान के विपरीत नहीं होता ३. **महान् असि**=यह महान् होता है, अर्थात् इसके हृदय में सभी के लिए स्थान होता है। ४. **रोचस्व**=यह अपने आन्तरिक गुणों के कारण, स्वास्थ्य के कारण तथा उदार हृदयता के कारण चमकता है—शोभावाला होता है। ५. **देववीतमः**=(वी=प्राप्ति) दिव्य गुणों की प्राप्ति में यह सबसे आगे बढ़ा हुआ होता है। ६. प्रभु इससे कहते हैं कि—**अग्ने**=अपने को अग्रस्थान पर प्राप्त करानेवाले और औरों को आगे ले-चलनेवाले **मियेध्य**=पवित्र यज्ञिय जीवनवाले **प्रशस्त**=प्रशंसा के योग्य! तू **दर्शतम्**=ज्ञान को, वस्तुतत्त्व के प्रकाशक ज्ञान को **विसृज**=विशेष रूप से फैला, उस ज्ञान को जो **धूमम्**=(धूञ् कम्पने) वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला है और **अरुषम्**=जो आरोचमान है, सर्वतः दीप्यमान है अथवा तू ज्ञान को फैलाने में किसी भी प्रकार के रुष=क्रोध को न आने दे—ज्ञान को माधुर्य से फैला।

भावार्थ—हम अपने जीवन को उत्तम बनाकर लोकहित के दृष्टिकोण से बड़ी मधुरतापूर्वक ज्ञान के फैलानेवाले बनें।

त्रिलोकी का आप्यायन

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

या ते धर्म दिव्या शुग्या गायत्र्याꣳ हविर्धाने। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते धर्मान्तरिक्षे शुग्या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रे। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते धर्म पृथिव्याꣳ शुग्या जगत्याꣳसदस्या। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा॥१८॥

पिछले मन्त्र में महिमा की प्राप्ति का संकेत था। इस महिमा की प्राप्ति के लिए शरीर की त्रिलोकी का ठीक होना बड़ा आवश्यक है। उसके ठीक होने के लिए शरीर में धर्म=सोमरक्षा अत्यन्त अपेक्षित है। 'इसकी रक्षा होने पर क्या होता है,' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—१. हे **धर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **दिव्या**=मस्तिष्करूप द्युलोक में होनेवाली **शुक्**=दीप्ति है (शुक् दीप्तौ) तथा उसके परिणामस्वरूप क्रियाशीलता है (शुक् गतौ), **या**=जो **गायत्र्याम्**=गायत्रियाँ (गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा में परिणत होती है तथा **हविर्धाने**=हवि के आधान में परिणत होती है, **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्यायताम्**=बढे **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से राशिरूप में संचित हो **तस्यै ते**=तेरी उस

दीप्ति के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्दों का उच्चारण करते हैं—उसकी प्रशंसा करते हैं। संक्षेप में, जब शरीर में घर्म=वीर्य सुरक्षित होता है तब (क) यह मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है—हमारे ज्ञान को दीप्त करता है। (ख) इस ज्ञानदीप्ति के दो परिणाम होते हैं—पहला, यह ज्ञानी पुरुष अपने खान-पान आदि में बड़ा संयत बनता है और इस प्रकार अपने प्राणों की रक्षा कर पाता हैं। यह नौवें व दसवें दशक में पहुँचकर भी प्राणशक्ति-सम्पन्न बना रहता है। (ग) दूसरा परिणाम यह होता है कि केवलादी न बनकर 'हविर्धान' करनेवाला होता है—इसका जीवन यज्ञमय होता है।

३. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **शुक्**=दीप्ति-क्रिया है, **या**=जो **त्रिष्टुभ्य**=(त्रि-स्तुभ्) 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों नरकद्वारों को रोकती है तथा जो दीप्ति **आग्नीध्रे**=उस अग्रेणी परमेष्ठी प्रभु को हृदय में धारण करने में परिणत होती है **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्ययताम्**=बढ़े **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से संचित हो **तस्यै ते**=उस तेरी दीप्ति के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। संक्षेप में, शरीर में सोम की सुरक्षा होने पर (क) मन पवित्रता की दीप्तिवाला होता है। (ख) उसमें काम-क्रोध-लोभ का प्रवेश नहीं हो पाता, उनके लिए हृदयद्वार बन्द हो जाता है। (ग) उस पवित्र हृदय में अग्नि नामवाले प्रभु का प्रतिष्ठापन होता है और इस प्रकार हमारा हृदय सचमुच प्रभु का मन्दिर बन जाता है, अतः यह 'शुक्' सचमुच सुन्दर-ही-सुन्दर है।

३. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीरूप शरीर में शुक् दीप्ति है **या**=जो **जगत्याम्**=इस क्रियामय लोक में **सदस्या**=उत्तम निवासवाली होती है, अर्थात् इसके कारण हम इस क्रियामय संसार में क्रियामय जीवनवाले होते हुए उत्तम ढंग से स्थित होते हैं **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्यायताम्**=बढ़े और **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से संचित हो। **तस्यै ते**=उस तेरी दीप्ति के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द उच्चरित होते हैं।

भावार्थ—शरीर में सोमपान के द्वारा १. हमारा मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल हो। हम यथोचित मार्ग पर चलते हुए अपने प्राणों की रक्षा करें तथा यज्ञमय जीवनवाले हों। २. हमारे मन निर्मल हों, उसमें काम-क्रोध और लोभ की समाप्ति होकर परमेश्वर का प्रतिष्ठापन हो। ३. हमारे शरीर स्वस्थ व क्रियामय हों जिससे इस संसार में हमारा निवास उत्तम हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ब्रह्म+क्षत्र—राजा का कर्त्तव्य

क्षत्रस्य॑ त्वा प॒रस्पा॑य॒ ब्रह्म॑णस्त॒न्वं॑ पाहि।
विश॑स्त्वा॒ धर्म॑णा व॒यमनु॑ क्रामाम सुवि॒ताय॒ नव्य॑से॥१९॥

गतमन्त्र में सोमरक्षा के द्वारा उत्तम जीवन के निर्माण का उल्लेख हुआ है। लोगों के जीवन को उत्तम बनाने में राजशक्ति का भी बड़ा हाथ होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं—१. हे राजन्! **परस्पाय**=उत्कृष्ट रक्षण के लिए **त्वा**=तू अपनी **क्षत्रस्य**=क्षत से बचानेवाली शक्ति की तथा **ब्रह्मणः**=ज्ञान के **तन्वम्**=शरीर की **पाहि**=रक्षा कर, अर्थात् तुझमें जहाँ शक्ति का निवास हो, वहाँ शक्ति के साथ तू ज्ञान का सम्पादन करनेवाला हो। **'ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति'**=ज्ञान शक्ति को समृद्ध कर देता है। २. राजा कितना भी अच्छा हो, शासन की उत्तमता के लिए प्रजा की अनुकूलता भी आवश्यक है, अतः मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते हैं कि **वयं विशः**=हम प्रजाएँ भी **धर्मणा**=धर्म से, या धारण के दृष्टिकोण से **त्वा अनुक्रामाम**=तेरा अनुगमन करें, अर्थात् राजा के बनाये नियमों का पालन करें। जहाँ राजा ज्ञानी व शक्तिशाली होता हुआ प्रजा के धारण-कार्य की उत्तमता

के लिए सभा-समिति द्वारा नियमों का निर्माण करवाता है, वहाँ प्रजा में भी नियमों के पालन की भावना होनी चाहिए। यही प्रजा का राजा के पीछे चलना है। इस प्रकार राजा और प्रजा की अनुकूलता होने पर ही ३. (क) **सुविताय**=सुवित सम्भव है। इसी स्थिति में राष्ट्र से दुरित दूर होंगे और प्रजाएँ उत्तम आचरणवाली (सुवितवाली) होंगी। उस समय राजा लोग यह गर्व कर सकेंगे कि मेरे राष्ट्र में चोर, कञ्जूस, शराबी यज्ञ न करनेवाले, मूर्ख, व अनियमित जीवनवाले लोगों का वास नहीं है। (ख) **नव्यसे** (नू स्तुतौ) उस समय सब प्रजाओं का जीवन स्तुत्य होगा। अथवा सब प्रजाजन (नव गतौ) क्रियाशील होंगे। वस्तुतः क्रियाशील जीवन ही स्तुत्य जीवन है।

भावार्थ—राजा ज्ञानी व शक्तिशाली हो। प्रजा धर्म से राजा का अनुगमन करे। परिणामतः राष्ट्र में दुरित नहीं होते और प्रजाओं का जीवन स्तुत्य होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यज्ञमय जीवन

चतुःस्वक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः।
अप द्वेषोऽअप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम॥२०॥

१. **ऋतस्य**=(**ऋत**=यज्ञ—नि० ८।६) यज्ञ का **नाभिः**=केन्द्र, अर्थात् यज्ञरूप केन्द्र **चतुःस्वक्तिः**='धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला है। 'स्वक्ति' शब्द का अर्थ दिशाएँ भी होता है। यज्ञ यदि केन्द्र है तो उसकी विविध दिशाएँ धर्म आदि हैं, अर्थात् यज्ञ से ये सब सिद्ध होते हैं। २. **स-प्रथाः** =यह यज्ञ विस्तारवाला है, हमारी सब शक्तियों का विकास यज्ञ से ही होता है। **'अनेन प्रसविष्यध्वम्'** इन शब्दों में यज्ञ ही फूलने-फलने का मार्ग है। ३. **सः**=वह यज्ञ **नः**=हमारे लिए **विश्वायुः**=पूरे जीवन को देनेवाला है। (विश्व+आयु) अर्थात् यज्ञ हमें शतायु बनाता है और सौ-के-सौ वर्षों में **सप्रथाः**=हमारी शक्तियों को विस्तृत रखता है। ३. **सः**=वह यज्ञ **नः**=हमें **सर्वायुः**=पूर्ण जीवन देता है, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य के साथ मन की निर्मलता तथा मस्तिष्क की दीप्ति प्राप्त कराके हमारे जीवन को पूर्ण बनाता है। **सप्रथाः**=हमारी शक्तियों को अन्त तक विस्तृत किये रखता है। ४. प्रभो! इस यज्ञ के द्वारा हम **अन्यव्रतस्य**=शास्त्रविरुद्ध कर्मोंवाले ('अकर्मा दस्युः अभि ने अमन्तुः अन्यव्रतो अमानुषः') दस्युओं से अपनाये जानेवाले **द्वेषः**=द्वेष को **अप सश्चिम**=अपने से दूर करें। **ह्वरः**=कुटिलता को **अप सश्चिम**=अपने से दूर करें, अर्थात् इस यज्ञशीलता से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि हमारे जीवन में वह द्वेष और वह कुटिलता न आएगी जो शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवाले लोगों में आ जाया करती है।

भावार्थ—यज्ञ के निम्न लाभ हैं—१. इससे धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। २. यह हमारी शक्तियों का विस्तार करते हुए शतायु बनाता है। ३. इससे हम शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों के स्वास्थ्य को प्राप्त करके पूर्ण जीवनवाले होते हैं ४. हमसे द्वेष व कुटिलता दूर रहती है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वर्धन व आप्यायन

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्द्धस्व चा च प्यायस्व।
वर्द्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि॥२१॥

१. हे **घर्म**=तेज! **एतत्**=यह जो **ते**=तेरा **पुरीषम्**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालनात्मक व

पूरणात्मक कर्म है **तेन**=उससे **वर्द्धस्व**=हमें बढ़ा **च**=और **प्यायस्व**=सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाले हो। शरीर में सोम (घर्म) सुरक्षित होता है तब वह शरीर में होनेवाली प्रत्येक कमी को दूर करता है। इसी प्रकार यह हमारे वर्धन का कारण बनता है और हमारा एक-एक अङ्ग आप्यायित रहता है।

२. हे **घर्म**=सोम! तेरे इस पालन-पूरणात्मक कर्म से **वयम्**=हम **वर्द्धिषीमहि**=सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त करें, **च**=और **प्यासिषीमहि**=औरों के भी आप्यायन का कारण बनें। जिस व्यक्ति के जीवन में कमी होती है वह कभी भी औरों की वृद्धि नहीं चाहता। 'वह औरों की वृद्धि का कारण बनेगा' इस बात का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। 'स्वस्थ शरीर, मन व मस्तिष्क' वाला व्यक्ति औरों के भी हित की कामनावाला होता है और उनकी उन्नति में यथाशक्ति सहायक होता है। इस उत्तम मनोवृत्ति को अपने में लाने के लिए हम 'घर्म' की रक्षा करें। सुरक्षित घर्मवाला ही उदारवृत्ति को अपना पाता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम की रक्षा करें। इससे अपना वर्धन व आप्यायन करके हम औरों का वर्धन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**परोष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

लोक-संग्रह

अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः। सꣳसूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः॥२२॥

गतमन्त्र में घर्म-रक्षा द्वारा अपना वर्धन करके औरों के हित में प्रवृत्त होने का उल्लेख है। यह औरों के हित में प्रवृत होनेवाला व्यक्ति १. **अचिक्रदत्**=शब्द करता है, औरों को ज्ञान का उपदेश देता है। **महान्**=इस ज्ञान उपदेश के द्वारा २. **वृषाः**=यह औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ३. **हरिः**=उनके दुःखों का हरण करता है। ४. अपने इस महान् हितकार्य में यह विशाल हृदयवाला होता है। इसके हितकार्य में 'जाति, देश व धर्म' का बन्धन नहीं होता। यह सभी का हित करता है, सम्पूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब समझता है। ५. यह **मित्रः न**=सूर्य के समान **दर्शतः**=दर्शनीय होता है। बड़ा तेजस्वी होता है ६. **सूर्येण सं दिद्युतत्**=ज्ञान के सूर्य से निरन्तर चमकता है। ७. **उदधिः**=यह ज्ञान का समुद्र बन जाता है अथवा समुद्र के समान गम्भीर होता है तथा ८. दिव्य गुणों का **निधिः**=कोश बन जाता है।

भावार्थ—घर्म की रक्षा से स्वयं बढ़कर औरों को बढ़ानेवाला 'दीर्घतमा' ज्ञान का उपदेश करता है और इस प्रकार सबके दुःखों को दूर करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

जल व ओषधियाँ

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२३॥

गतमन्त्र की भावना के अनुसार जब हम द्वेष व कुटिलता से दूर होकर (२०) अपना वर्धन और औरों की वृद्धि करते हुए (२१) लोकसंग्रहमय जीवन विताएँगे (२२) तब **नः**=हमारे लिए **आपः**=जल **ओषधयः**=और ओषधियाँ अवश्य **सुमित्रियाः**=उत्तम स्नेह करनेवाली (**मिद्**=स्नेह) तथा रोगों से बचानेवाली (प्रमीतेः त्रायते) होंगी। मनुष्य का मन प्रसन्न होता है और वह द्वेष-क्रोधादि से रहित मनवाला होता हुआ भोजन करता है तो जल व ओषधियाँ उसके अन्दर शक्ति को जन्म देनेवाली होती हैं। (२) इसीलिए मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते है कि **यः**=जो **अऽस्मान् द्वेष्टि** =हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम

सब **द्विष्मः**=अप्रिय–अवाञ्छनीय समझते हैं **तस्मै**=उसके लिए ये जल व ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः**=न स्नेह करनेवाली तथा रोगों से न बचानेवाली हों। जब मन में द्वेष होता है तब ओषधियों में भी कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं और इस प्रकार ओषधियाँ हितकर नहीं रहतीं। जो व्यक्ति सदा औरों के प्रति द्वेष करता है और अशुभ भावनाओं से भरा रहता है, जो अपने स्वार्थ के लिए सारे समाज का अहित करता है, अन्त में वह समाज के लिए भी अवाञ्छनीय हो जाता है, ऐसे व्यक्ति के लिए जल व ओषधियाँ अहितकर ही होती हैं।

भावार्थ–हम द्वेष की भावना से शून्य होकर सदा सबके हित की भावना से ओत-प्रोत मनवाले बनकर भोजन करें। निर्द्वेष मनसे होनेवाला खान-पान हितकर परिणामवाला होता है, तो द्वेषी मन भोजन को भी अहितकर कर देता है।

ऋषिः–**दीर्घतमाः**। देवता–**सविता**। छन्दः–**विराडनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**।

उत् + उत्तर + उत्तम

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥२४॥

गतमन्त्र की निर्द्वेषता के साधन के लिए प्रकृति से ऊपर उठकर प्रभु की ओर चलना ही मुख्य उपाय है, उसका उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं–

१. **वयम्**=हम **उत्**=इस उत्कृष्ट **तमसः**=अन्धकारमयी प्रकृति से **परि अगन्म**=ज़रा परे चलें। 'प्रकृति उत्कृष्ट है' इसमें सन्देह नहीं। इस सृष्टि में प्रभु ने प्रत्येक पदार्थ का निर्माण जीव के हित के लिए बड़ी सुन्दरता से किया है। प्रत्येक पदार्थ उत्तम है, सुन्दर और आकर्षक है। हम अपनी अल्पज्ञता के कारण उस पदार्थ की ओर आकृष्ट होकर उसका अतियोग कर बैठते हैं और हमारे लिए वह पदार्थ असुन्दर परिणामोंवाला हो जाता है। चिन्तन करने पर हम इनमें न फँसने का निश्चय करते हैं कि इस प्रकृति से हम अब ऊपर उठते हैं। इस भौतिक शरीर के लिए इन प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग करते हुए हम इसमें उलझते नहीं। इससे ऊपर उठकर २. **उत्तरम्**=चेतनता के कारण इस जड़ तमोमय प्रकृति से अधिक उत्कृष्ट **स्वः**=(स्वर् to radiate) उस देदीप्यमान आत्मज्योति को **पश्यन्तः**=देखते हुए हम इस संसार में चलते हैं। हम प्रतिदिन आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह प्रकृति हमारे लिए है, हम प्रकृति के लिए नहीं हैं। इस प्रकृति में छेदन-भेदन होने से यह 'तमस्' है, यह अन्धकारमयी है। आत्मा में यह छेदन-भेदन नहीं, वह अच्छेद्य-अभेद्य ज्योति है।

३. इस भावना के जागने पर हम **देवत्रा देवम्**=देवों में देव, अर्थात् इन सब ज्योतिओं को भी ज्योतिर्मय करनेवाले **सूर्यम्**=(सुवति कर्मणि) सबको अपने-अपने कर्मों में प्रेरित करनेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=उस सर्वाधिक निरतिशय ज्योति परमात्मा को **अगन्म**=प्राप्त हों। जीव चेतन है, इसी कारण जड़ प्रकृति से अधिक उत्कृष्ट है। परमात्मा 'पूर्ण चैतन्य' है, वे जीव से भी ऊपर हैं। जीव पुरुष है तो प्रभु पुरुषोत्तम हैं। एवं, प्रकृति 'उत्' है, जीव 'उत्तर' है और प्रभु 'उत्तम' हैं।

भावार्थ–हम प्रकृति के सौन्दर्य को समझते हुए, उसका यथायोग–उचित उपयोग करते हुए, प्रकृति से ऊपर उठें। उससे ऊपर उठकर आत्मस्वरूप का चिन्तन करें। आत्म-चिन्तन करते हुए हम उस सर्वोत्तम ज्योति देवों के भी देव परमात्मा का दर्शन करें।

ऋषिः–**दीर्घतमाः**। देवता–**ईश्वरः**। छन्दः–**साम्नीपङ्क्तिः**। स्वरः–**पञ्चमः**॥

प्रभु के तेज का धारण

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि॥२५॥

गतमन्त्र का द्रष्टा प्रभु का दर्शन करता है और विनय करता है कि–१. **एधः असि**=(एध वृद्धौ) आप बढ़े हुए हैं। **'वर्धमानं स्वे दमे'**=आप तो अपने स्वरूप में सदा से वृद्ध हैं। प्रत्येक गुण की चरम सीमा ही तो आप हैं। आप निरतिशय ज्ञान हैं, सर्वाधिक शक्ति हैं और परमैश्वर्यवाले हैं। २. **एधिषीमहि**=आपकी कृपा से हम भी बढ़ें। हम शारीरिक स्वास्थ्य को प्राप्त करें तो मानस नैर्मल्य व ज्ञान की दीप्ति को बढ़ानेवाले हों। आप ३. **समित्** (सम्+इन्ध)=उत्तम दीप्तिवाले **असि**=हैं। आप तो **तेजः असि** तेज के पुञ्ज हैं–तेज-ही-तेज हैं, इस **तेजः**=तेज को **मयि**=मुझमें **धेहि**=धारण कीजिए।

प्रभु सदा वर्धमान हैं–ज्ञान की दीप्ति से दीप्त हैं, तेज के पुञ्ज हैं। प्रभुकृपा से हम भी सदा वृद्धि को प्राप्त करें, हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले और हम तेज के पुञ्ज बनें।

भावार्थ–प्रभुभक्त वर्धमान, ज्ञानी व तेजस्वी बनता है।

ऋषिः–**दीर्घतमाः**। देवता–**इन्द्रः**। छन्दः–**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः–**पञ्चमः**।

यावंती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहंमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम्॥२६॥

दीर्घतमा कहता है कि **यावती द्यावापृथिवी**=जबतक ये द्युलोक और पृथिवीलोक हैं **च**=और **यावत्**=जबतक **सप्त सिन्धवः**=सातों समुद्र **वितस्थिरे**=विशेषरूप से अपनी मर्यादा में स्थित हैं **तावन्तम्**=उतने समय तक **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते ग्रहम्**=आपके ग्रहण को **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के हेतु **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **अक्षितम्**=आपका ग्रहण मेरी अक्षीणता का कारण बनता है। आपके ग्रहण के लिए मुझे कहीं दूर थोड़े ही जाना है **मयि**=अपने ही अन्दर **गृह्णामि**=मैं आपको ग्रहण करने के लिए यत्नशील होता हूँ, जिससे **अक्षितम्**=मेरा क्षत–विनाश न हो।

१. जब तक द्युलोक और पृथिवीलोक विद्यमान हैं –जब तक समुद्र अपनी मर्यादा में स्थित है, तब तक मेरी उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ग्रहण करने की साधना चलती रहे।

२. इस प्रभु-ग्रहण की साधना ने ही मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त करानी है। इसी साधना ने मुझे क्षय से बचाना है। प्रभु से दूर हुआ और मैं निर्बल होकर पिसा।

३. प्रभु का ग्रहण मुझे कहीं बाह्य संसार में नहीं करना, उसका ग्रहण तो मेरे ही अन्दर हो जाएगा। बाह्य वस्तुओं में प्रभु की महिमा का दर्शन अवश्य होता है, परन्तु ऐसा करने पर धीमे-धीमे उन वस्तुओं की ही पूजा आरम्भ हो जाती है। सूर्य में प्रभु महिमा का दर्शन करनेवला सूर्य का ही उपासक बन जाता है। मूर्त्तिपूजा का मूल इसी वृत्ति में है। इसलिए अन्दर ही प्रभु को देखना ठीक है।

भावार्थ–मैं सतत साधना के द्वारा प्रभु को अपने अन्दर ग्रहण करूँ, जिससे मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो और मैं क्षीणता से बच सकूँ।

ऋषिः–**दीर्घतमाः**। देवता–**यज्ञः**। छन्दः–**पङ्क्तिः**। स्वरः–**पञ्चमः**।

मयि त्यदिंन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुंः।
घर्मस्त्रिशुग्वि रांजति विराजा ज्योतिंषा सह ब्रह्मंणा तेजंसा सह॥२७॥

गतमन्त्र में वर्णित प्रभु का ग्रहण मैं इसलिए करता हूँ कि १. **मयि**=मुझमें **त्यत्**=उस प्रसिद्ध **इन्द्रियम्**=इन्द्र की शक्ति उत्पन्न होती है। उपासना से इन्द्र की शक्ति का विकास होता है। वह विकास **बृहत्**=मेरी वृद्धि का कारण बनता है (बृहि वृद्धौ) २. **मयि दक्षः**= इस उपासना से मुझमें कार्यकुशलता बढ़ती है। उपासक कभी अनाड़ीपन से कार्य नहीं

करता। ३. **मयि क्रतुः**=मुझमें सदा कर्म संकल्प बना रहता है। ब्रह्मनिष्ठ का जीवन क्रियाशील होता है। ४. इस उपासना के परिणामस्वरूप वासनाओं का दूरीकरण होकर **घर्मः**=सोमशक्ति **त्रिशुक्**=मस्तिष्क, मन व शरीर तीनों में दीप्ति व क्रिया को उत्पन्न करती है। वह सोमशक्ति **विराजति**=दीप्त होती है। उपासक का मस्तिष्क 'उज्ज्वल', मन 'निर्मल' तथा शरीर पूर्ण 'स्वस्थ' होता है। ५. यह उपासक **विराजा**=विशेष रूप से देददीप्यमान **ज्योतिषा**=ज्योति के **सह**=साथ होता है। ब्रह्म सूर्य के समान ज्योति है, उसका उपासक भी विशेष दीप्तिवाला होता है। ६. यह उपासक जहाँ **ब्रह्मणा**=ज्ञान के साथ होता है वहाँ **तेजसा सह**=तेज के भी साथ होता है। उसके ब्रह्म और क्षत्र दोनों ही फूलते-फलते हैं, शरीर शक्ति से दीप्ति होता है। मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल होता है। इसप्रकार यह तम व अन्धकार को विदीर्ण करके 'दीर्घतमा' बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु-उपासक की आत्मशक्ति 'दक्षता, कर्मसंकल्प, ज्ञान व तेज' से युक्त होती है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**स्वराड्धृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

समर्पण, गोदुग्ध-सेवन

पयसो रेतऽआभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराꣳ समाम्। त्विषः संवृक्क्रत्वे दक्षस्य ते सुषुम्णस्य ते सुषुम्णाग्निहुतः। इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य मधुमतऽ उपहूतऽउपहूतस्य भक्षयामि॥ २८॥

यह मन्त्र इस अध्याय का अन्तिम मन्त्र है। इसमें मनुष्य अपने को समर्पण के लिए सन्नद्ध करता है। शुद्ध सात्त्विक भोजन से जीवन को प्रारम्भ करता है, जिससे सात्त्विक मनवाला बनकर **'अग्निहुत'**='प्रभु-अर्पित' हो सके। यह कहता है कि १. **पयसः**=सर्वाङ्ग आप्यायन करनेवाले दूध से **रेतः**=शक्ति का **आभृतम्**=हममें सर्वथा पोषण हुआ है। गौ का ताज़ा दूध वस्तुतः अमृत है, उसी का सेवन करके देव अमर बनते हैं। हम **तस्य**=उस दूध के **दोहम्**=दोहन को **उत्तरां समाम्**=एक के बाद दूसरे आनेवाले वर्षों में **अशीमहि**=प्राप्त करें और उसी का भोजनरूप में सेवन करें। २. इस ताज़े दूध के सेवन से मैं **त्विषः**=कान्ति व दीप्ति का **संवृक्**=अपनी ओर आवर्जन=झुकाव करनेवाला बनूँ। ३. **क्रत्वे**=उत्तम कर्मसंकल्पों के लिए मैं इस गोदूध का सेवन करूँ। गोदूध के सेवन से सात्त्विक मनोवृति के कारण उत्तम कर्मसंकल्प ही हममें उत्पन्न होंगे। ४. **सुषुम्ण**=उत्तम सुखों के देनेवाले प्रभो! (सुम्न=सुखम्) हे **उपहूत**=सदा पुकारे जानेवाले प्रभो! मैं **अग्निहुतः**=(अग्नौ हुतं यस्य) अग्निहोत्र करनेवाला तथा अग्निरूप आपमें अपना अर्पण करनेवाला **ते**=आपके **दक्षस्य**=शक्ति के बढ़ानेवाले **सुषुम्णस्य**=नीरोगता के कारण उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **ते**=तेरे इस **इन्द्रपीतस्य**=जितेन्द्रिय बनने की कामनावाले से पीये जानेवाले **प्रजापतिभक्षितस्य**=प्रजा के रक्षण की वृत्तिवाले से ग्रहण किये गये **मधुमतः**=अत्यन्त माधुर्यमय **उपहूतस्य**=सदा प्रार्थित दुग्ध का **भक्षयामि**=सेवन करूँ।

भावार्थ—उल्लिखित अर्थ से स्पष्ट है कि गोदूध शक्तिवर्धक है, नीरोगता देनेवाला है, जितेन्द्रिय बनने में सहायक है, रक्षण की वृत्ति को बढ़ानेवाला है, जीवन की प्रत्येक क्रिया में माधुर्य को उपजाता है। इस दूध का सेवन करनेवाले हम उत्तम मनोवृतिवाले बनकर प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। हम 'अग्निहुत' हों।

इत्यष्टात्रिंशोऽध्यायः॥